पूज्य लालचंदभाई का प्रवचन
श्री समयसार, गाथा ३१, ११, ता. ६-४-१९८९
भिंड, प्रवचन नंबर P १०

Version 2

यह समयसारजी परमागम शास्त्र है। उसका प्रथम जीव नाम का अधिकार, उसमें १३ गाथा चली थी। वो १ और ३ था। पहले १ और ३ था। अभी आँकड़ा बदलता है। ३ और १। ३१ गाथा का स्वाध्याय करना है। उसमें, ३१ गाथा का जन्म क्यों हुआ? आचार्य भगवान ने ३१ गाथा लिखी, उसका कारण क्या है? कि अनादिकाल से आत्मा तीर्थंकर भगवान के देह की स्तुति करने से तीर्थंकर केवली की स्तुति होती है, ऐसा मानकर, वो ज्ञेय-ज्ञायक का संकरदोष उत्पन्न कर लेता है। देखता है तो देह को, तीर्थंकर भगवान (की)। तीर्थंकर और आचार्य, दो शब्द हैं। तीर्थंकर की स्तुति और आचार्य की स्तुति।

अज्ञानी जीव के पास इन्द्रियज्ञान है। अतींद्रियज्ञान तो नया प्रगट होता है। तो इंद्रियज्ञान से जिसको देखता है, उसको ही तीर्थंकर मान लेता है। ऐसे आचार्य भगवान के देह को देखे, तो देह ही आत्मा है, आचार्य हैं, ऐसा मानता है। ऐसा मानकर स्तुति करता था। उस स्तुति के टाइम में जो शुभभाव होता है, वो आचार्य भगवान ने आगे नहीं किया, मगर मिथ्यात्व होता है। शुभभाव तो होता है, पाप का परिणाम तो नहीं है, तो भी देह को आत्मा मानना, देह को आत्मा जानना और जानकर स्तुति करना, वो तो पाप है। शुभभाव के साथ-साथ भी एक मिथ्यात्व का पाप लगता था। तो आचार्य भगवान ने करुणा करके (बताया), ऐसी स्तुति में भी मिथ्यात्व का जो पाप लगे, तो उसका कारण क्या है? कुछ कारण (तो) होना चाहिए। तो जब कारण का नाश होगा, तब ही कार्य का नाश होता है। तो इस मिथ्यात्व का, मोह का, ममत्व के नाश का उपाय बताने के लिए ३१ गाथा का जन्म हुआ।

बहुत अज्ञानी जीव ने चर्चा किया, दलील किया। वहाँ तक दलील किया कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी में जिनागम में आता है कि देह, वो भी आत्मा है। आचार्य भगवान ने कहा भैया! वो सर्वज्ञ भगवान ने व्यवहार दर्शाया है। सचमुच देह और जीव कदापि एक होता नहीं है। कदापि शब्द है, आहाहा! कथंचित् होता है और बाद में टल जाता है, ऐसा नहीं है। कदापि एक होते ही नहीं है। दो जीव और पुद्गल, सदा से ही, अपने स्वभाव से ही भिन्न-भिन्न रहते हैं। ऐसी गाथा है मूल में।

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है। व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, आहाहा! व्यवहारनय में भेदज्ञान करने की ताक़त नहीं है, एकत्व करता है। 'ही' शब्द लगाया है। मूल कुन्दकुन्द भगवान की गाथा है। **व्यवहारनय तो यह कहता है** यानि प्रतिपादन करता है कि **जीव और शरीर एक ही है किंतु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कदापि,** आहाहा! **कोऽपि काले, एक पदार्थ नहीं है**।

व्यवहारनय अन्यथा कथन करती है। व्यवहारनय का स्वरूप ही ऐसा है। व्यवहारनय दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है। गुजराती में, हिंदी कर लेना। व्यवहारनय दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है। यानि जो पुद्गल का भाव है, उसको जीव (का) भाव कहती है, व्यवहारनय। समझे? और

निश्चयनय जैसा वस्तु का स्वरूप है, ऐसा कहता है। दूसरे के भाव को दूसरे का ज़रा भी कहता नहीं है। यहाँ पूर्ण विराम नहीं है, अभी देर है। निश्चयनय दूसरे के भाव को दूसरे का ज़रा भी कहता नहीं है, मगर निषेध करता है। जब निषेध करे, तो निश्चयनय का जन्म होता है।

ऐसा पंचाध्यायी में प्रश्न आया कि निश्चयनय का क्या स्वरूप है? कि भैया! वो तो वचनातीत है। तो भी थोड़ा बताओ, इशारा तो करो हमको। (कहा) कि जो ज्ञान व्यवहार का निषेध करता है, उस ज्ञान का नाम निश्चयनय है। आहाहा! और आचार्य भगवान ने फ़रमाया है कि तेरे को जो सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, तो निर्दयरूप से व्यवहार का निषेध कर दे, अवश्य आत्मदर्शन होगा। दया नहीं रखना कि भाई! ये तो अहिंसक धर्म है ना। जैनदर्शन तो अहिंसा परमोधर्मः (है)। अहिंसा का अर्थ ये है कि जहाँ राग की उत्पत्ति, दया की उत्पत्ति नहीं है, उसका नाम अहिंसा है। वो जो पर्याय में राग उत्पन्न होता है, वो ही निश्चय से हिंसा है। आहाहा! मैं एक बार महावीरजी गया था, दर्शन करने के लिये, जयपुर से। तो वहाँ एक चक्र था। अपने महावीर-चक्र निकला था ना, भगवान का। तब एक,

मुमुक्षुः- निर्वाण महोत्सव पर।

उत्तरः- हाँ.. थम्ब था थम्ब.. उसमें लिखा था कि, निश्चय से राग की उत्पत्ति इसका नाम हिंसा है। ऐसा पुरुषार्थ सिद्धि उपाय का एक श्लोक है। वहाँ (स्तम्भ पर) लिखा था। आहाहा! ऐसे आचार्य भगवान फ़रमाते है कि पराश्रित व्यवहारनय हो, असदभूत व्यवहार हो कि गुण-गुणी का भेदरूप व्यवहार हो, सदभूत। उसको निर्दयरूप से निषेध कर दे कि ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है। जो व्यवहारनय बताता है, ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है। व्यवहारनय कहता है कि रागी जीव है, बिल्कुल झूठी बात करती है। असत्यार्थ कथन करनेवाला है। विद्वान लोग कहते हैं कि असत्यार्थ (है) और कलश टीकाकार ने तो ऐसी भाषा कह दी कि व्यवहारनय झूठा है, व्यवहारनय झूठा है। झूठा प्रतिपादन करता है। ४०० साल पहले की बात है, राजमलजी साहब, जैनधर्म के मर्मी, अनुभवी थे। आहाहा! उन्होंने व्यवहार सब झूठा है, झूठा है (कहा), वो बात कहाँ से आई? कि समयसार की ११वीं गाथा में आया है कि व्यवहार, समस्त प्रकार का अभूतार्थ, असत्यार्थ है। आहाहा!

तो देवलाली में वो चली बात। तो पंडितजी बेठे थे हुकुमचंदजी साहब, डॉ. भारिल्ल साहब। उन्होंने कहा कि अभूतार्थ तो है मूल संस्कृत में, अमृतचंद्र आचार्य की टीका में अभूतार्थ तो है, मगर असत्यार्थ लिखा है, ये कहाँ से (आया)? मैंने कहाँ ये जयसेन आचार्य भगवान की टीका में, संस्कृत में है। अभूतार्थ कहो कि असत्यार्थ कहो, एकार्थवाचक है। ऐसे, वो जो व्यवहार को निर्दयरूप से निषेध करता है, वो आत्मा पर दया करता है। आहाहा! तो ये स्तुति करने से तीर्थंकर भगवान के देह की स्तुति करे और आचार्य भगवान के देह की स्तुति करे, तो हमको स्तुति हो गयी। तो वहाँ आचार्य भगवान ने (कहा), हाँ! ठीक है! शुभभाव होता है, ऐसा नहीं लिया। मगर मिथ्यात्व हो गया, ऐसा लेकर मिथ्यात्व के नाश का उपाय ३१वीं गाथा में बताते हैं, कि निश्चयस्तुति क्या है? व्यवहारस्तुति तो सुनी तूने, अनंतबार, काम-भोग-बंधन की कथा है।

व्यवहारस्तुति में आत्मा का हित होता नहीं है, उस भाव से तो बंधन होता है। जिस भाव से बंधन होता है, वो मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! ये करुणा करके लिखते हैं, ऐसे नहीं है। ठीक है!

शुभभाव तो भैया है। (ऐसा) नहीं (लिखते हैं), क्योंकि वो व्यवहार का पक्ष तो जीव को अनादि का है और आचार्य भगवान लिखें कि, ठीक है! शुभभाव तो है, तो (वो) वहाँ चिपक जाता है। आहाहा! मगर मिथ्यात्व (का) लगता है, दोष, ध्यान रख। तू देह को तो आत्मा मानता है। देह के भीतर भगवान आत्मा तीर्थंकर परमात्मा है, वो तेरे को दिखायी देता नहीं है और आचार्य भगवान की देह को देखकर स्तुति करता है, वंदन करता है, नमस्कार करता है; वो देह, हमारे आचार्य देहवाले होते ही नहीं हैं। हमारे आचार्य तो आनंदमूर्ति, ज्ञानमूर्ति होते हैं। ऐसे आचार्य को हम नमस्कार करते हैं। आहाहा! नित्य नमस्कार करते हैं। आता है कि नहीं?

णमो अरिहंताणं,
णमो सिद्धाणं,
णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं,

हें? एक धवल के अंदर तो ऐसा पाठ आया

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं, आहाहा!
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं।

त्रिकालवर्ती! वर्तमान को तो नमस्कार करता हूँ, मगर निगोद में पंचपरमेष्ठी का द्रव्य है, उनको भी अभी नमस्कार करता हूँ। आहाहा! प्रभु। ये गुणवाचक धर्म है, जैनदर्शन व्यक्तिवाचक नहीं है। व्यक्ति पूजा नहीं है, गुण का पुजारी है। आहाहा! तो ये आचार्य भगवान अभी एक अपूर्व बात (करेंगे), जो अनंतकाल से आत्मा इन्द्रियज्ञान से पर को जानता है और अपना मान लेता है। देव-शास्त्र-गुरू की भक्ति करे, पूजा करे, उस टाइम भी उसकी नज़र आत्मा पर नहीं है। इन्द्रियज्ञान उसके पास है। तो इंद्रियज्ञान को जीतने से, ये इंद्रियज्ञान को जीतने से, अतींद्रियज्ञान नया प्रगट होता है और उस अतींद्रियज्ञान में आत्मा का अनुभव होता है, उसका नाम निश्चय केवली की स्तुति हो गई। केवली की, अभी केवली की स्तुति होती है, इस काल में पंचमकाल में। आहाहा! क्यों? आत्मा केवली है। केवलज्ञान का पुंज है, इसलिए केवली है। आहाहा!

तो एक अद्‌भुत एक गाथा आती है। भाई साहब ने अच्छा कहा कि मैं तो जानता हूँ, जानता हूँ। मतलब क्या है तेरे को? जानता हूँ, जानता हूँ, पर को जानने का आगे तू करता है, तो जानता नहीं है, तू उसको कर्ता मानता है। वो बड़ी भूल है। जानने के बहाने पर मिथ्यात्व-पोषक हो जाता है। करने में तो मिथ्यात्व है ही, मगर मैं राग को जानता हूँ, मिथ्यात्व है। राग को जानने का तेरा प्रयोजन क्या है? तू वहाँ टिक-टिक क्या करता है? क्या देखना है? आहाहा! तेरा कुछ मतलब लगता है, वहाँ देखने का। आहाहा! यानि जिसको देखे, उसको अपना मान लेता है। हाँ! ये इन्द्रियज्ञान एकत्व करता है और अतींद्रियज्ञान विभक्त करता है। इन्द्रियज्ञान पर के साथ एकत्व कर लेता है। ऐसा मोक्षमार्ग प्रकाशक

में भी आया कि इन्द्रियज्ञान अमूर्तिक अपने आत्मा को तो जानता ही नहीं है और देहादि मूर्तिक पदार्थ को जानकर अपना अवश्य मान लेती है, उसका नाम मिथ्यात्व है। केवल जानता नहीं है देह को, अपना मानता है। अज्ञानी केवल राग को जानता नहीं है, अपना मान लेता है। जाने हुए का श्रद्धान हो जाता है। जाने हुए का श्रद्धान। आत्मा को जानो और जानकर उसकी प्रतीति करो, ये सुल्टी (सीधी) बात। ऐसे उल्टी बात में, इंद्रियज्ञान जिसको जानता है, उसमें अपनापन मान लेता है। वो अज्ञान और मिथ्यादर्शन है। वो मिथ्यात्व के क्षय की गाथा अभी आती है।

उसका मथाला:- **अब, (तीर्थंकर-केवलीकी),** आहाहा! तीर्थंकर केवली की निश्चयस्तुति कहते है। तीर्थंकर केवली की निश्चयस्तुति सामने देखने से नहीं होती है। अंदर भीतर आत्मा को देखना-जानना उसका नाम केवली की स्तुति है, निश्चयस्तुति। व्यवहारस्तुति पराश्रित है, बंध का कारण है। निश्चयस्तुति स्वाश्रित मोक्ष का कारण है। आहाहा!

अब, (तीर्थंकर-केवलीकी) निश्चयस्तुति कहते हैं, उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोषका परिहार करके स्तुति कहते हैं:- ज्ञेय और ज्ञायक, आहाहा! कर्ता-कर्म लिखा ही नहीं है, लिखा है?

मुमुक्षु:- नहीं साहब!

उत्तर:- क्योंकि अकर्ता का कोई कर्म नहीं होता है। ज्ञाता का तो कोई ज्ञेय होता है।

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३१।।
कर इन्द्रियजय ज्ञानस्वभाव रु अधिक जाने आत्मको
निश्चयविषैं स्थित साधुजन भाषैं जितेन्द्रिय उन्हींको ।।३१।।

मोह को, मिथ्यात्व को जीतने के लिए, जो जीव इन्द्रियज्ञान को जीतेगा, उसको मोह का क्षय हो जाता है। जिसको इन्द्रियज्ञान ज़िंदा रखने की भावना है, उसको मिथ्यात्व का नाश नहीं होता है। आहाहा! इन्द्रियज्ञान ही सारा संसार का बीज है। आहाहा! बोर्ड में अच्छा! बोर्ड लगाया है। आहाहा! ऐसा ही है। ये अपने पास तो आधार है ना? आहाहा! वो टोडरमलजी साहब ने भी लिखा कि इन्द्रियज्ञान जिसको जानता है, उसको मेरा (अपना) मान लेता है। तो क्या करें? कि एक दफ़े इन्द्रियज्ञान से जानना बंद कर दे ना। उपाय तो सरल है, ये इसमें आयेगा सब।

मूल गाथा का अर्थ, **जो इंद्रियों को जीतकर, इंद्रियों को जीतकर,** इंद्रियों का तीन प्रकार आयेगा, द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और भावेन्द्रिय का विषय। वो तीनों का नाम, तीनों का नाम इन्द्रिय है। तीनों का नाम इन्द्रिय है। जो इन्द्रियज्ञान से इस प्रतिमा का दर्शन करता है ना, तो ये प्रतिमा भी इन्द्रिय होती है। आहाहा! विषय है ना। इन्द्रियज्ञान के विषय को भी इन्द्रिय कहा जाता है, ऐसा इसमें है। आहाहा!

शांति से सुनना। थोड़ा ऐसा करना कि अपने पक्ष को अभी रखना। छोड़ देना, समुद्र में डाल नहीं देना। थोड़ी देर, अपने पक्ष को वो पोटली में बाँधकर, क्या कहते हैं? पोटली में बाँधकर, अभी बाजू में रखना। थोड़े टाइम रखो और वो बात आचार्य भगवान की सही लगे, तो उसको समुद्र में फेंक

देना कि वो वापस आवे नहीं। आहाहा! व्यवहार का पक्ष अनादिकाल का जीव का है। ये ११वीं गाथा में भावार्थ में लिखते हैं आचार्य भगवान, देखो। व्यवहार का पक्ष छूटता है। व्यवहार तो थोड़े टाइम के लिए जानने के लिए, हेयरूप जानने के लिए रह जाता है। सर्वथा अभेद हो जाता है, तो बात अलग होती है।

जयचंद पंडितजी ने बहुत अच्छा भावार्थ लिखा है। **यहाँ व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो,** आहाहा! क्या कहा? व्यवहारनय का विषय विद्यमान नहीं है। उसकी अस्ति ही नहीं है। **जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो, उसे अभूतार्थ कहते है।** आहाहा!

व्यवहारनयको अभूतार्थ कहनेका आशय यह है कि-शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, नित्य द्रव्य सामान्य है, शुद्धात्मा, शुद्ध चैतन्य परमात्मा है। **उसकी दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता;** आहाहा! अभेद में भेद है ही नहीं, तो दिखायी कहाँ से देवे? जहाँ गुण-भेद नहीं दिखायी देता है, जिसमें गुण होने पर भी, अनंतगुण होने पर भी गुण-भेद दिखायी देता नहीं है। और पर्याय तो इसमें है ही नहीं, तो कहाँ से दिखा देवे? गुण होने पर भी गुण-भेद दिखायी नहीं देता है, ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, सुख है। आहाहा!

इसीलिए उसकी दृष्टिमें भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिये। दिखायी नहीं देता है, इसीलिए अवस्तु अविद्यमान कहना चाहिए। जैसे आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, सुख है, व्यवहार से कहा जाता है। जब अभेद दृष्टि में आया तो ज्ञान नहीं, दर्शन नहीं, चारित्र भी नहीं। विद्यमान नहीं है, विद्यमान होने पर भी उसके ऊपर से लक्ष्य हट जाता है, तो गुण-भेद दिखायी देता नहीं है। आहाहा! होने पर भी नहीं है। होने पर भी नहीं है। और पर्याय तो उसमें है ही नहीं, तो 'होने पर', ऐसा शब्द लागू पड़ता नहीं। क्या कहा? आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, ये गुण तो हैं, गुण तो, अनंतगुण तो हैं। पर्याय तो ध्रुव में है नहीं। जो है गुण, अनंत, वो अभेद की दृष्टि में अनंतगुण होने पर भी गुण-भेद दिखायी देता नहीं है। होने पर भी दिखायी देता नहीं है। तो जो नहीं है, वो तो दिखने का प्रश्न (है ही नहीं)। आहाहा!

असत्यार्थ ही कहना चाहिये। ऐसा न समझना चाहिए कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। ज्ञान का ज्ञेय तो है मगर ध्यान का ध्येय नहीं है। ख़्याल रखना। पर्याय तो है, मगर अंतर्दृष्टि से देखो तो पर्याय दिखायी नहीं देती है। इसका अर्थ पर्याय अवस्तु है, अलोक में चली गयी पर्याय, ऐसा है नहीं। पर्याय है, मगर पर्याय पर (से) लक्ष्य छूट जाता है, द्रव्य पर लक्ष्य आ जाता है, तो पर्याय होने पर भी दिखायी नहीं देती है।

यदि ऐसा माना जाए तो जैसे वेदांतमतवाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्मको वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो और उससे सर्वथा एकांत शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आये। आहाहा! ज्ञान के ज्ञेय में से नहीं निकालना, निकल सकता ही नहीं। मगर ध्यान के ध्येय में आती ही नहीं पर्याय। क्या कहा? ध्यान के ध्येय में पर्याय आती ही नहीं और ज्ञान के ज्ञेय में से जाती भी नहीं, ऐसे

सम्यक्एकांतपूर्वक, ध्येयपूर्वक ज्ञेय हो जाता है। आहाहा! **सर्वथा एकांत शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आये।** आहाहा! **इसीलिए यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है,** स्याद्वाद का जन्म अनुभूति के काल में होता है। आहाहा! शास्त्र के लक्ष्य से स्याद्वाद का जन्म, अनेकांत का जन्म होता (नहीं)। आहाहा! स्याद्वाद ऐसा है, ऐसा विकल्प उठता है, वो विकल्प में स्याद्वाद नहीं है। अनुभवज्ञान में स्याद्वाद है। आहाहा!

जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नयको मुख्य-गौण करके कहती है। अभी, अभी अपना विषय अभी आया। आहाहा! **प्राणियों को**... ऐसा हुआ, मैं मेरी बात थोड़ी बता दूँ, दो मिनट के अंदर। मैं गुरुदेव के पास जब पहले शुरू-शुरू में गया, शुरू-शुरू में जाता था। तो उनको (गुरुदेव को) ख़्याल तो आया था कि इसको (मेरे को) व्यवहार का पक्ष है। बहुत साल पहले की बात है। अनादि का सबको व्यवहार का पक्ष है। व्यवहार का पक्ष बाद में छूट जाता है, रहता नहीं है। आहाहा! तो शुरू-शुरू में जब जाऊँ, रविवार-रविवार जब जाऊँ, तो ये (११वीं गाथा का ही) भावार्थ पढ़ें। भावार्थ पढ़ें। एक दफ़े तो पढ़ा, तो मेरे को (लगा कि), ठीक है। दूसरे रविवार गया, तो भी वही लिया, तीसरे टाइम भी वही लिया। मेरे को ख़्याल आया कि मेरे ऊपर करुणा आ गयी है। मेरा व्यवहार के पक्ष का ज्ञान उनके (ज्ञान में) आ गया है कि इस जीव को व्यवहार का पक्ष छूट जावे, इसीलिए ये बार-बार मेरे को समझाते हैं। आहाहा! मेरा नाम नहीं लेते हैं, किसी का नाम नहीं लेते हैं, अपन समझ जाते हैं। आहाहा! तो ये मोस्ट इंपोर्टेंट बात है।

प्राणियों को भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादि कालसे ही है। आहाहा! अनादिकाल का मिथ्यादृष्टि है ना, तो व्यवहार का पक्ष (होता ही है)। व्यवहार तो चारित्र का दोष है, मगर व्यवहार का पक्ष श्रद्धा का दोष है, मिथ्यात्व है। पक्ष अलग बात है और व्यवहार अलग बात है। आहाहा! **भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादि कालसे ही है,** व्यवहार तो अनादिकाल से है ही नहीं क्योंकि उसके पास निश्चय (है ही नहीं)। निश्चय हो तो, व्यवहार अनादि का आवे। बात समझे? व्यवहार तो अनादिकाल का मिथ्यादृष्टि के पास है ही नहीं क्योंकि निश्चयपूर्वक व्यवहार होता है। निश्चय तो उसके पास है ही नहीं, तो व्यवहार अनादि का होता (नहीं है)। मगर व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल का रहता है। आहाहा!

बाबूजी:- निश्चय के बिना व्यवहार कहाँ से आवे?

उत्तर:- कहाँ से आवे?

बाबूजी:- ... हो तो व्यवहार होता है।

उत्तर:- तो व्यवहार होता है।

भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादि कालसे ही है और इसका उपदेश भी ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करने से धर्म, ऐसे त्याग करो तो धर्म। मगर ग्रहणपूर्वक त्याग होता है, वो भूल जाता है। क्या कहा? ग्रहणपूर्वक त्याग होता है। ग्रहण सापेक्ष त्याग, वह त्याग है। ग्रहण निरपेक्ष त्याग, वो धर्म का त्याग हो गया। आहाहा! त्याग के नाम से भी मिथ्यात्व पोषता है जीव, उसको मालूम पड़ता नहीं है। आहाहा!

ये भिंड में तो दूसरी दफ़े आने का तो कोई प्रश्न है नहीं अभी। तो मौका है, मौका है, तो सब, जो

हमको मिला हमारे गुरु के पास से, वो सब उनकी बात मैं बताता हूँ, आपको। आहाहा!

मुमुक्षुः- अभी तो कई दफ़े आना पड़ेगा।

उत्तरः- उनके एक बड़े पुत्र हैं, वक़ील साहब। बड़े वक़ील हैं, ग्वालियर में। भाई साहब के (पुत्र)। उसने, मेरे को नहीं मिला तो उसने किसी को बोला कि मैं तो राजकोट जाकर....ये भाई साहब ने बात की सुमतजी ने, सुमतजी ने कहा कि मैं तो राजकोट जाकर भाई साहब को इधर मोटर में लाऊँगा। ज़रूर लाऊँगा। क्यों नहीं आयेंगे? (ज़रूर आयेंगे) ऐसा उनका भाव आ गया। ये क्या? ये तो इनके पास कोई (और बात नहीं), आत्मा के अलावा कोई बात ही करते नहीं है। क्या है? आहाहा! ऐसी उनको चोट लग गयी। आहाहा!

भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादि कालसे भैया **है** तेरे पास **और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं।** परस्पर यानि दो मिलें व्यवहार के पक्षवाले, व्यवहार के पक्षवाले दो मिल जावें, (तो बात करें) हाँ! बराबर! इतना तो शुभभाव करना (चाहिए)। शुभभाव आवे, उसको जानना, ऐसी वाणी नहीं आती है। भाई साहब! ज़रा शांत रहो। शुभभाव करने का उपदेश देते हैं। शुभभाव आवे उसको जानना, वो बात अज्ञानी के पास नहीं है। तो वो व्यवहार का उपदेश परस्पर करते हैं। आहाहा! ऐसा तो करना चाहिए। प्राथमिक भूमिका है ना? प्रथम तो करना चाहिए ना? आचार्य भगवान फ़रमाते हैं कि प्रथम आत्मा को जान। आहाहा! क्या प्रथम? प्रथम और पश्चात्। आहाहा! प्रथम क्या करना? कि प्रथम आत्मा को जानना।

बैंगलोर के अंदर १७वीं-१८वीं गाथा, एक लाइन, पहली लाइन, लाइन-प्रथम आत्मा को जानो। तीन दिन चला, तीन दिन, तीन घंटे। बाद में मोटर में साथ में चला मैं। गुरुदेव के साथ, जगह पर। मैंने कहा कि गुरुदेव, ये प्रथम आत्मा को जानो एक लाइन में से बाहर निकलने का भाव ही आपको आता नहीं है। दूसरी लाइन पढ़ते ही नहीं है आप। प्रथम आत्मा को जानो। आहाहा! प्रथम लोकालोक को जानो, छहद्रव्य को जानो, आठ कर्म घाती-अघाती, १४८ कर्म-प्रकृति, बंध-व्युच्छति, उदय-उदीर्णा, कौनसे गुणस्थान में कितनी प्रकृति? आहाहा! प्रथम आत्मा को (जानो)। वो सब मैंने जाना था पहला तो। पहला तो मैंने सब, सब पढ़ा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पहला सीख लिया, बाद में विचार आया कि उसके लक्ष्य से अपने प्रयोजन की सिद्धि होनेवाली नहीं है। वो परद्रव्य है। आहाहा!

तो **प्राणी परस्पर उपदेश भी करते हैं। और जिनवाणीमें व्यवहारका उपदेश शुद्धनयका हस्तावलंब (सहायक) जानकर बहुत किया है;** वो मोस्ट इम्पोर्टन्ट बात है कि जिनवाणी, जिनेंद्र भगवान की वाणी में भी निश्चय का, निश्चय **उपदेश शुद्धनयका हस्तावलम्ब (सहायक) जानकार बहुत किया है;** जिसको निश्चय का ख़्याल नहीं है, उसको निश्चय स्वरूप समझाने के लिए, भेदरूप व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं। जैसे छठवीं गाथा में आया कि ज्ञायक, ज्ञायक, आत्मा ज्ञायक है। वो ज्ञायक शब्द से जान नहीं पाया उसने, तो आचार्य भगवान ने कहा कि ज्ञेय को जाने, उसका नाम ज्ञायक है। ज्ञेय को जाने उसका नाम ज्ञायक है। तो वहाँ चिपक गया। अरे भगवान! ये तो ज्ञायक को नहीं जानते थे ना, तहाँ तक, वो भेद पर से ये असदभूत व्यवहार से जाना और कोई अंदर में जाने कि ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ऐसे भेद, गुण-भेद से भी जानने में प्रतिपादन आता है, मगर वहाँ चिपकने

जैसा, पक्ष करने जैसा नहीं है।

जानकर बहुत किया है; किंतु उसका फल संसार ही है। जिनेंद्र भगवान की वाणी में आत्मा को समझाने के लिए भेदरूप व्यवहार का उपदेश बहुत आता है। उपयोगोलक्षणम् आहाहा! आता है कि नहीं? तो लक्षण को बताने के लिए लक्षण है कि लक्ष्य को बताने के लिए लक्षण है? उपयोग एक समय की पर्याय है ना। उपयोगोलक्षणम् तो जीव का लक्षण उपयोग है। जहाँ उपयोगोलक्षणम् कहा, वहाँ राग लक्षण नहीं है। आहाहा! तो लक्ष्य को बताने के लिए, ये पर्याय के द्वारा आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। तो उपयोग को जो आत्मा मान लेवे, पर्याय को आत्मा मान लेवे, तो उसको लक्ष्य ख़्याल में आता नहीं है। लक्षण तो लक्षण है। लक्षण लक्ष्य नहीं हो जाता है और लक्ष्य लक्षण नहीं हो जाता है। लक्ष्य तो त्रिकाली है, लक्षण तो एक समयवर्ती है, उपयोगोलक्षणम्।

ऐसे मगर **उसका फल संसार ही है। शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं,** शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया (नहीं)। उसके दो अर्थ हैं। एक परमार्थ अर्थ तो ऐसा है कि शुद्धात्मा का कभी अनुभव हुआ नहीं, ये परमार्थ व्याख्या है। एक दूसरी व्याख्या ऐसी है कि देव-शास्त्र-गुरु के समीप आकर, देशनालब्धि सुनने के बाद या तो शास्त्र पढ़ने के बाद भी, उसको शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया, अनुभव कभी नहीं हुआ, एक बात। और मैं ये शुद्धात्मा हूँ, इसका यथार्थ आत्मा का, मन के द्वारा भी उसने निर्णय किया नहीं। मैं अकर्ता ज्ञायक हूँ, मैं अकर्ता (ज्ञायक हूँ), ऐसा यथार्थ निर्णय भी उसने किया नहीं। यथार्थ निर्णय, उसका नाम भी शुद्धनय है, पक्ष। ऐसे शुद्धनय का पक्ष आया नहीं है। शुद्धनय का पक्ष आने के बाद, वो पक्षातिक्रांत हो जाता है। व्यवहार का पक्षवाला पक्षातिक्रांत होता (नहीं है)। आहाहा!

उसको अपना दोष तो मालूम नहीं पड़ता है। अज्ञानी को अपना दोष तो (मालूम नहीं पड़ता है)। वो तो गुण मानता है। वो तो गुण मानता है और दूसरे को उपदेश भी ऐसा देता है। आहाहा! ये भारत के, जीव के अंदर त्याग के नाम में, वो लोग बहुत ठगाते हैं। आहाहा! बाह्य का त्याग देखकर, आहाहा! अंदर का मिथ्यात्व का ग्रहण पड़ा रहता है और बाहर का त्याग (हो जाता है)। आहाहा! वो त्याग सच्चा नहीं है। ग्रहणपूर्वक त्याग होता है भैया! सम्यग्दर्शन का ग्रहण होता है, तो मिथ्यात्व का त्याग होता है। ऐसा वीतरागीभाव प्रगट जितनी मात्रा में होता है, उतनी मात्रा में आस्रव का त्याग होता है। डिग्री टू डिग्री, मगर ग्रहणपूर्वक त्याग होता है। आहाहा!

शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया ही **नहीं।** मैं केवल ज्ञाता हूँ। भाई! केवल ज्ञाता तो एकांत हो जाएगा। थोड़ा ज्ञाता भी है और कथंचित् कर्ता भी है। भैया! ऐसा नहीं है। स्वभाव हमेशा सर्वथा ही होता है। स्वभाव हमेशा सर्वथा ही होता है। आत्मा ज्ञाता ही है, तीनों काल ज्ञाता है। मानो कि ना मानो। अपना स्वभाव छोड़ता नहीं है। उसका **शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं। पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है विरल**, कोई-कोई जगह शुद्धनय का उपदेश। बाक़ी ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो, करने का उपदेश, जहाँ देखो, वहाँ करने का उपदेश। आहाहा! दान करो, शील करो, तप करो, व्रत करो आहाहा! करना आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। होता है, व्रतादिभाव आता है साधक को, देशव्रत का भाव भी आता है, ज्ञानी करता नहीं है। पाँच महाव्रत का भाव आता है,

मगर आ जाता है। आता भी नहीं है, आ जाता है। आ जाता है। आने पर भी वो चले जाता है। स्वरूप में जब लीन होता है, आहाहा! आ जाता है। आने पर वो रूकता (नहीं है) क्योंकि वो विभाव है, बंध का कारण है, औदयिक भाव है। पाँच महाव्रत औदयिक भाव है, वो निर्जरा का कारण नहीं है। जो भाव से बंध होता है, वो भाव से कभी निर्जरा होती (नहीं है)। वो सैद्धांतिक बात है। वो तो सैद्धांतिक बात है। आहाहा!

शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है-वह कहीं-कहीं पाया जाता है। कहीं-कहीं पाया जाता है, सोनगढ़ के वर्तुल में, वर्तुल में है। आहाहा! वो अभी बात सोनगढ़ से बाहर निकली, फ़ैल गयी, बहुत, सारे भारत में। ऐसा नहीं है (कि बाहर फैली नहीं)।

मुमुक्षुः- भिंड में भी है साहब, भिंड में भी है।

उत्तरः- हाँ! भिंड में भी है। ये भिंड की शिबिर कोई जुदी जाति की है, ऐसा हमारे कान पर आया। **इसलिए उपकारी श्रीगुरुने,** श्रीगुरु, आत्मज्ञानी का नाम गुरु है। गुरु किसका नाम है? जिसको आत्मा का भान और ज्ञान होता है। आहाहा! उसका नाम गुरु है। बाक़ी गुरु नहीं है कोई। नाम-गुरु नहीं, भाव-गुरु। भाव से गुरु होता है, नाम से गुरु होता नहीं है। वो तो नाम निक्षेप है। आहाहा! नाम तो रखा महावीर और बिल्ली निकले तो भाग जावे। आहाहा! महावीर कहाँ रहा वो? वो चूहा निकले, ऊँदर (चूहा), तो भी भाग जावे। महावीर नाम नहीं है। नाम-निक्षेप की क़ीमत नहीं है, भाव-निक्षेप की क़ीमत है। **इसलिए उपकारी श्रीगुरुने,** आत्मज्ञानी गुरु, **शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर,** आहाहा! **उसका उपदेश प्रधानतासे दिया है कि-"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेनेसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहारमें मग्न है,"** व्यवहार के पक्ष का अर्थ कि राग में रत हो गया। राग में, राग से जुदा आत्मा है, उसका विचार भी नहीं आता है, इतना मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है, कर्तृत्व में। कर्तृत्व में मिथ्यात्व बहुत दृढ़ होता है, तो उसको विचार भी नहीं आता है मानसिक-ज्ञान में कि राग से ज्ञान भिन्न है, ऐसा विचार भी नहीं आता है।

जीव व्यवहारमें मग्न है, व्यवहारमें मग्न है। आत्मा में मग्न नहीं है। व्यवहार में मग्न यानि राग में मग्न हो गया और शास्त्रज्ञान में मग्न हो गया, तो ज्ञेय में मग्न है। शास्त्रज्ञान ज्ञान नहीं है, ज्ञेय है। परज्ञेय है, स्वज्ञेय नहीं है। आहाहा! विद्वान ज्ञेय में मग्न हैं, सामान्यजन राग में मग्न होते हैं। आहाहा! दो ही मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! **"व्यवहारमें मग्न है तब तक आत्माके ज्ञानश्रद्धानरूप निश्चय सम्यकत्व नहीं हो सकता है।"** इंद्रियज्ञान शास्त्रज्ञान हो, वो दोष नहीं, मगर उसमें मग्न नहीं होना। शुभभाव तो है, मगर उसमें मग्न नहीं होना। आर्य जीव को शुभभाव, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, वंदन, पूजा, यात्रा का भाव, उपवास का भाव भी आवे, कोई त्याग का भाव भी आ जाता है। समझे? आ जाता है, कर्ता नहीं है आत्मा। आ जाता है, उसको जानता है। उसको जानता है क्या? उससे भिन्न आत्मा को जानता है। आहाहा! वो कोई जानने की चीज़ नहीं है। शुभराग कोई जानने की चीज़ नहीं है। उसको जानने से शुद्धि की वृद्धि नहीं होती है और आत्मा को जानने से शुद्धि की वृद्धि होती है, आनंद की वृद्धि होती है। आहाहा! **शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है;** श्रद्धान निश्चय सम्यक् नहीं हो सकता, ऐसा आशय समझना। व्यवहार में मग्न है, उसको सम्यग्दर्शन होता नहीं है।

अभी ३१ गाथा **[यः] जो [इन्द्रियाणी] इंद्रियोंको [जित्वा] जीतकर [ज्ञान-स्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक** यानि जुदा आत्मा को जानते है। स्व-पर को जानते हैं, ऐसा नहीं आया। **[जित्वा] जीतकर [ज्ञान-स्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक** यानि जुदा **[आत्मानम्] आत्माको [जानाति] जानता है [तं] उसे, [ये निश्चताः साधवः] जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं,** आनंद में मग्न है, आनंदवाला। ऐसे साधु पुरुष हैं, ज्ञानी धर्मात्मा हैं, **साधु हैं [ते] वे, [खलु] वास्तवमें [जितेंद्रियं] जितेंद्रिय [भणन्ति] कहते हैं।** आहाहा! जितेंद्रिय-जिन हो गया। चतुर्थ गुणस्थान में जितेंद्रिय-जिन हो जाता है। मिथ्यात्व का नाश होकर जब सम्यग्दर्शन होता है, तब मोह का क्षय हो जाता है। ऐसे अभी इंद्रियों के जीतने का क्या तरीका है? इंद्रिय तो है। भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय भी है। वो द्रव्येन्द्रिय है, ये सब द्रव्येन्द्रिय हैं। वो पुद्गल का परिणाम है, द्रव्येन्द्रिय है। क्या उसको अलोक में भेज देना, टुकड़ा करके? नहीं..नहीं..नहीं..नहीं.. उसके स्थान में रहने दो। उसको, उसके स्थान में रहने दो, उसका ममत्व छोड़ दो। वो जानने का साधन है, ऐसा मानना छोड़ दो। ये देशनालब्धि को सुनने के लिए साधन है, (ऐसा) मानना छोड़ दो। ये चक्षु है, है, तो शास्त्र का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है! आहाहा! कठिन तो पड़ती है जगत को। क्या करें? हें?

बाबूजी:- ज्ञेयकृत अशुद्धता आती है।

उत्तर:- हाँ! ज्ञेयकृत अशुद्धता आती है, उसमें। आहाहा!

टीका:- (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको तीनों को अपनेसे अलग करके इसका लक्ष्य छोड़कर के, **समस्त अन्यद्रव्योंसे भिन्न,** आहाहा! **समस्त अन्यद्रव्यों से भिन्न, अपने आत्माका अनुभव करता है,** आहाहा! **वह मुनि निश्चयसे जितेन्द्रिय है।)** जो जीव परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर, हटकर, अपनी शुद्धात्मा का लक्ष्य करके अनुभव में आता है, लक्ष्य करता है, उसको सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जितेंद्रिय-जिन हो गया, सर्वज्ञ भगवान का लघुनंदन हो गया। आहाहा! भाव-द्रव्येन्द्रिय होने पर भी, भावेन्द्रिय होने पर भी और भावेन्द्रिय का विषय होने पर भी, आहाहा! जो उससे भिन्न आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, उसका नाम जितेंद्रिय-जिन है। इसका ख़ुलासा करते हैं। अभी तो शॉर्ट में किया। अब टीका यानि विस्तार करते हैं।

अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वश, अनादिकाल से जो भावेन्द्रिय है, उसका नाम भावबंध है। राग का नाम भी भावबंध और इन्द्रियज्ञान का नाम भी भावबंध। उसके वश से, आहाहा! कर्म के बंध तो निमित्तरूप है, कर्म का बंध तो बाह्य है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में आता नहीं है। मगर भावबंध तो पर्याय में है। उस भावबंध का स्वरूप क्या? ये जो पर को जानने का जो अभिप्राय, मैं पर को जानता हूँ, ऐसा अभिप्राय रखकर जो इन्द्रियज्ञान प्रगट होता है और इन्द्रियज्ञान और ज्ञायक, उसमें जुदाई जानता नहीं है, उसमें एकत्व करता है, उसका नाम भावबंध है। वो भावबंध के वश हो गया। आहाहा! ये थोड़ी बात सूक्ष्म आने वाली है।

एक ख़ुलासा और करना है। उपयोग लक्षण है। तो इन्द्रियज्ञान है, इन्द्रियज्ञान आत्मा का लक्षण है कि नहीं? (कहें) कि आत्मा का लक्षण नहीं है, आहाहा! और अतींद्रियज्ञान नया प्रगट होता है, वो

लक्षण होने पर भी अनादि-अनंत नहीं है। जो लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोष से रहित (हो), उसका नाम लक्षण कहा जाता है। तो उपयोगोलक्षणम् है, वो सामान्य, सामान्य लक्षण, विशेष का अभाव, इसका नाम सामान्य लक्षण यानि उपयोग का नाम मिथ्याज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान भी नहीं, मतिज्ञान, केवलज्ञान भी नहीं, बस उपयोगोलक्षणम्। तो उपयोग जो लक्षण है, उसका नाम इन्द्रियज्ञान नहीं है और उसका नाम अतीन्द्रियज्ञान भी नहीं है। सामान्यज्ञान एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीव को भी उपयोग प्रगट होता है, समय-समय पर। उपयोग प्रगट न हो, तो आत्मा जड़ हो जाता है और राग प्रगट न हो, तो सिद्ध हो जाता है। राग भी प्रगट होता है, अपने स्थान में, ख़्याल करना और उपयोग अपने स्थान में प्रगट होता है। दोनों की प्रगटता होने पर भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। आहाहा!

उपयोग में उपयोग है मगर उपयोग में राग नहीं है। जो उपयोग सामान्य उपयोग है, उसमें भी उपयोग है। उसमें भी राग नहीं है। सूक्ष्म चर्चा है थोड़ी। आहाहा! क्योंकि इन्द्रियज्ञान का प्रकरण आया ना तो प्रश्न आया मेरे पास कि इन्द्रियज्ञान तो लक्षण नहीं है और उपयोग तो लक्षण है। तो ये इन्द्रियज्ञान का जन्म कैसे हो गया? तो इन्द्रियज्ञान लक्षण कहें कि नहीं? बिल्कुल इन्द्रियज्ञान लक्षण नहीं है। उपयोगोलक्षणम् यानि भव्य-अभव्य सब जीव के अंदर चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोग प्रगट हो रहा है। आहाहा! जानना, जानना, जानना। करना, करना है? (करना) है ही नहीं। आहाहा! जानना, जानना, जानना, जानना।

भाई साहब ने आज अच्छा दृष्टांत दिया। मैं बहुत ख़ुश हुआ कि प्रकाश होता है, प्रकाश। तो प्रकाश किसी को पास लेता नहीं है। चोरी नहीं करता है और जाता है तो कहता है कि मैं जाता हूँ, मगर किसी का (कुछ) लिया नहीं है। ऐसे ज्ञान प्रकाश का पुंज अपने को जानते-जानते पर को भले जाने, पर पर के पास से कुछ लेता नहीं है। आहाहा!

ऐसे प्रभु उपयोगोलक्षणम् है, तो उपयोग प्रगट होता है और उपयोग जब प्रगट होता है, तब उपयोग या तो परमुख (से) प्रगट होता है या तो स्वमुख (से) प्रगट होता है। जो स्वमुख से प्रगट होय, तो उपयोग कन्वर्ट होकर अतींद्रियज्ञान नाम पाता है और वो उपयोग परमुख से, पर का लक्ष्य करके प्रगट होता है, तो उसका नाम भावेन्द्रिय, इन्द्रियज्ञान होता है। समय एक है, उत्पाद एक समय का है, पर्याय एक है, मगर उसका लक्ष्य कहाँ है? इधर लक्ष्य हो तो अतींद्रियज्ञान नाम पाता है और बहिर्मुख लक्ष्य (हो) तो इसका नाम इंद्रियज्ञान होता है। आहाहा! इंद्रियज्ञान अंदर में से नहीं आता है, अंदर में से तो उपयोग आता है। अंदर में इंद्रियज्ञान नहीं है। आहाहा! उपयोग प्रगट होता है, परमुख से प्रगट होता है। द्रव्येन्द्रिय का लक्ष्य करके प्रगट होता है। द्रव्येन्द्रिय का लक्ष्य क्योंकि श्रद्धा में है कि आँख है, तो जानता हूँ। कान है, तो सुनता हूँ, वो मान्यता मिथ्यात्व है। आत्मा के पास इस द्रव्येन्द्रिय का ही अभाव है। कान बिना का ही है आत्मा, नाक बिना का ही है। द्रव्येन्द्रिय, चक्षु बिना का ही आत्मा है। वो तो जड़ के परमाणु का पिंड है, वो तो स्पेयर पार्ट है। ये देह तो अव्यवी है और वो इसका अव्यव है। वो आत्मा अव्यवी और ये इसका अव्यव, ऐसा है नहीं। तो शब्द जानने का साधन कान नहीं है। आहाहा! मोटी भूल है, बड़ी भारी भूल है। छोटी भूल नहीं है और शिक्षा भी बड़ी है उसकी। आहाहा! चार गति

में रुलता है।

बाबूजी:- जानता नहीं है और जानने का साधन बना लेता है।

उत्तर:- जो जानता नहीं है, जड़ है, उसको जानने के लिए साधन बनाता है। ये जीभ है ना, खट्टे-मीठे पदार्थ को जानने के लिए, उसके अवलंबन की ज़रूरत नहीं है। खट्टे-मीठे पदार्थ, ये इसको छूता ही नहीं है और उसका ज्ञान हो जाता है। वो साधन नहीं है जानने का। जड़पदार्थ चेतन को, उसका सहारा लेवे तो जाने, ऐसा है नहीं। वह ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष हो गया। ये द्रव्येन्द्रिय (और) आत्मा को एक मानता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है थोड़ी, मगर अच्छी है बात।

अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वश, भावबंध के वश हो गया। इन्द्रियज्ञान मेरा है और इन्द्रियज्ञान से मैं जानता हूँ। भावेन्द्रिय से मैं जानता हूँ और द्रव्येन्द्रिय मेरे जानने में निमित्त है और सबके साथ एकत्व कर लेता है। आहाहा! कान नहीं हो तो सुनने में नहीं आता है, आँख नहीं हो तो देखने में नहीं आता है। अरे! आत्मा हो तो देखने में आता है। सब पदार्थ को जानता है आत्मा। ऐसी ताक़त है आत्मा की। एक समय (के) अतींद्रियज्ञान की ताक़त अलौकिक है। सब आएगा इसमें। आहाहा! लोकालोक को जानता है ज्ञान। श्रुतज्ञान हो। आहाहा! युगपद्, एक समय में? हाँ! एक समय में जानता है। क्रम नहीं पड़ता है। तो-तो अक्रम जाने, तो-तो केवलज्ञान हो गया। आहाहा! केवल, ज्ञान ही है। वो केवलज्ञान नहीं, केवल ज्ञान ही है। केवलज्ञान में प्रत्यक्ष जानने में आता है और श्रुतज्ञान में परोक्ष। लोकालोक को पीकर बैठा है श्रुतज्ञान। पीकर, कोई बाक़ी जानने का रहा (नहीं)। आहाहा! परोक्ष और प्रत्यक्ष इतना अंतर है। बाक़ी सब, आहाहा! ज्ञान में ज्ञेयरूप आ गया है। उपयोगात्मक भले कम होवें, उपयोगात्मक। बाक़ी लोकालोक का प्रतिभास अतींद्रियज्ञान में आ गया है। आहाहा! इसलिए कभी-कभी श्रुतज्ञानी भी, कोई जीव की पर्याय को देख लेता है, उपयोगात्मक। ओहोहो! कठिन पड़ता है।

ये **अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वश जिसमें समस्त स्व-परका विभाग अस्त हो गया है।** इन्द्रियज्ञान स्व और पर की जुदाई होने पर भी उसको जुदा नहीं देखता है। स्वपर का विभाग अस्त हो गया है, वो इसका नाम अज्ञान है, इसका नाम मिथ्यात्व है। इन्द्रियज्ञान एकत्व करता है और अतीन्द्रियज्ञान प्रज्ञाछैनी (है), आहाहा! जुदा-जुदा। इन्द्रियज्ञान जुदा और अतींद्रियज्ञान जुदा और अतींद्रियज्ञान का विषय महापदार्थ भी जुदा। जुदा-जुदा सबको जानते हैं। आहाहा!

फिर से। ये आया ना पाठ, **अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वश जिसमें समस्त स्व-परका विभाग अस्त हो गया है।** बंध का वश अस्त हो गया है। बंध के वश हो गया है। आत्मा के वश परिणती नहीं आयी। इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियज्ञान का विषय, वो मेरा है, तो उसमें स्व-पर का विभाग अस्त हो गया। अस्त समझे ना? स्व-पर जुदाई दिखती नहीं। एकमेक खिचड़ी हो गया। खिचड़ी समझे ना? मूँग की दाल और चावल, हैं तो अलग-अलग। मगर उसका नाम मूँग की दाल भी कोई भी न कहे और चावल भी न कहे। खिचड़ी कहे। खिचड़ी यानि एकत्व, संकरदोष। आहाहा! खिचड़ी में दो पदार्थ जुदा-जुदा हैं, एक नहीं हुआ। दाल का स्वाद अलग और चावल का स्वाद अलग है। साथ में रहने पर भी साथ हुआ नहीं है। ऐसे इन्द्रियज्ञान जब प्रगट होता है, परसन्मुख, तो अपना ज्ञायक आत्मा एक और

ये इन्द्रियज्ञान मेरा है, तो उसके साथ एकत्व कर लेता है। कर्ता-कर्म संबंध मान लेता है। जैसे राग के साथ कर्ता-कर्म संबंध अज्ञान है, ऐसे इन्द्रियज्ञान जिसको कर्म बनाता है कि ये कर्म मेरा है, शास्त्रज्ञान मेरा है। आहाहा! सचमुच तो ज्ञान ही नहीं है, ज्ञेय है। वो ज्ञेय और ज्ञायक, आहाहा! इन्द्रियज्ञान से, इन्द्रियज्ञान से.. इन्द्रियज्ञान से जुदा आत्मा दिखायी नहीं देता है। इन्द्रियज्ञान को ही आत्मा मानता है, तो आत्मा तिरोभूत हो जाता है। ख़्याल में आता नहीं है।

टाइम हो गया। १०.१५ है ना। अच्छा! १०.३० तक है। अच्छा! न हो तो भी बोल दे वो। ऐसा है। अच्छा! ठीक है।

आहाहा! **समस्त।** इन्द्रियज्ञान का दोष, जीव को दोष ही नहीं लगता है। राग का दोष तो दोष लगे ही नहीं। राग, कषाय, कषाय की तीव्रता और कषाय की मंदता, वह तो जग-प्रसिद्ध दोष है। जग-प्रसिद्ध (दोष है)। मगर एक अव्यक्त दोष रह गया है, इन्द्रियज्ञान। वो इन्द्रियज्ञान को कोई दोष (नहीं) जानता है, उसको गुण मानता है। उसको (गुण मानता है)। शास्त्रज्ञान को गुण मानता है। शास्त्रज्ञान दोष है, भैया! जैसे राग, बंध का कार्य और बंध का कारण है, ऐसा इन्द्रियज्ञान भी बंध का ही कार्य है और बंध का ही कारण होता है। ऐसा आगम में लिखा है। उपयोग बंध का कारण नहीं, ये ख़्याल रखना। शुद्धोपयोग बंध का कारण नहीं, उपयोग बंध का कारण नहीं मगर इन्द्रियज्ञान बंध का कार्य और बंध का कारण है। उपयोगोलक्षणम् बंध का कारण नहीं। वो उपयोग बंध का ही कारण नहीं है और निर्जरा का कारण (नहीं है)। क्या कहा? जो निर्जरा का कारण हो, तो सबके पास उपयोग है, तो निर्जरा होनी चाहिए। और जो उपयोग लक्षण बंध का कारण हो, तो कोई छूटे ही नहीं। बाक़ी बंध का ही कारण नहीं है और निर्जरा का कारण नहीं और इन्द्रियज्ञान एकांत से बंध का ही कारण है। पर सत्ता अवलंबनशील ज्ञान बंध का ही कारण है। भले चाहे धर्मात्मा के पास इन्द्रियज्ञान हो, तो भी पर सत्ता अवलंबनशील ज्ञान बंध का कारण है। जिनेंद्र भगवान के मार्ग में कोई पक्षपात नहीं है कि ज्ञानी हो गया, छूट दे दो। ऐसा है नहीं। आहाहा!

तो ये एक छुपा (हुआ) चोर है। जो कषाय कि मंदता और तीव्रता, वो तो प्रगट चोर है, वो लुटेरा है, वो तो आत्मघाती भाव है। आहाहा! मगर एक छुपा चोर जो है... बाहर का चोर घर में से चोरी करे तो-तो पकड़ावे भले। मगर अपना लड़का चोरी करता है, रोज़ाना, १०० रुपया २०० रुपया, धीमे-धीमे चोरी करे, तो कोई ख़्याल में ही नहीं आवे और पूँजी साफ़ कर देवे। ये घर का चोर है, इन्द्रियज्ञान। छुपा चोर है, अव्यक्त चोर है, समाज को उसका ख़्याल नहीं आता है कि इन्द्रियज्ञान भी बड़ा दोष है। संसार का मूल है वो। उसको छेदने से मोक्ष हो जाता है। ऐसा अभी आएगा।